DAMAGE BOOK

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180399

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—24—4-4-69—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.6/P19V Accession No. G.H.1202

Author पन्त, श्री सुमित्रानन्दन।

Title वीणा।

This book should be returned on or before the date last marked below.

वीणा

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

प्रथमावृत्ति

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग।

१९२७

Printed and Published by K. Mittra, at The Indian
Press, Ltd , Allahabad.

विज्ञापन

"वीणा" नामक अपने इस दुधमुँहे प्रयास को हिन्दी-संसार के उद्भट-समालोचकों की छिद्रान्वेषी मूषक-दृष्टि के सम्मुख रखने में मुझे जो सङ्कोच से अधिक आह्लाद ही हो रहा है उसका कारण यह कि मेरे इन असमर्थ-प्रयत्नों तथा असफल-चेष्टाओं द्वारा किये गये अत्याचार-उत्पात को स्नेह-पूर्वक सहन कर वे मुझे ही अपने कृतज्ञता के पाश में न बाँध लेंगे, स्वयं भी मेरे अत्यन्त-निकट खिंच आयेंगे। सन्त-हंसों की तो वैसे भी चिन्ता नहीं रहती; हाँ, वारि-विकार के प्रेमियों के कठोर-आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका में अत्यन्त-विनीत तथा शिष्ट-शब्दों की चाटुकारी का रोचक-जाल फैला कर उनकी रण-कुशल कठफोरे की-सी ठोंठ को बाँध दूँ। किन्तु 'निज कवित्त केहि लागे न नीका' वाली किंवदन्ती के याद आते ही मेरे अभिमानी-कवि ने निर्भयता का कवच पहन कर, मुझे, उनकी लम्बी-सी चोंच के लिए 'शोरवा' तैयार करने से हठात् रोक दिया। अस्तु—

इस संग्रह में दो एक को छोड़ अधिकांश सब रचनायें सन् १९१८-१९ की लिखी हुई हैं। उस कवि-जीवन के नवप्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नूपुर-ध्वनि तथा अनिर्वचनीय-सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा 'मन्दः कवियशः प्रार्थी' निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि, वीणा-वादिनी के चरणों के पास बैठ, स्वर-साधन करते समय, अपनी आकुल-उत्सुक हृत्-तन्त्री से, बार बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त-असमर्थ अँगुलियों के उलटे-सीधे आघातों-द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट-अस्पष्ट-झङ्कारें जागृत कर सका है, वे इस 'वीणा' के

स्वरूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इसकी भाषा यन्त्र तन्त्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमें परिवर्तन करना उचित नहीं समझा; क्योंकि तब इसका सारा ठाठ ही बदल देना पड़ता। कई शब्द, वाग्बन्ध आदि—जैसे मम, स्वीकारो, निर्माऊँ, वय-वाली, 'पहना है शुचि मुक्तामाल (पृष्ठ ३१)' इत्यादि—जिनका प्रयोग अब मुझे कविता में अच्छा नहीं लगता—इसमें ज्यों के त्यों रख दिये गये हैं। मुझे आशा है, जिस प्रकार गत साधते समय अपने नौसिखुवे शिष्य की अधीर, पथ-भ्रष्ट अँगुलियों की बेसुरी हलचल उस्ताद को कष्टकर नहीं होती, उसी प्रकार इस वीणा के गीतों की स्वर-लिपि में इधर-उधर भूल से लग गये कर्कश विवादी-स्वर भी सहृदय काव्य-मर्मज्ञों के लिए केवल मनोरञ्जन तथा विनोद ही की सामग्री होंगे।

'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' वाला गीत (पृष्ठ ८) गीताञ्जलि के 'अन्तर मम विकसित कर' वाले गाने से मिलता-जुलता है। बनारस में मेरे एक मित्र गीताञ्जलि के उस गीत को अकसर गुनगुनाया करते थे, उसी को सुनकर मैंने भी उपर्युक्त गीत लिखने की चेष्टा की थी; और मेरा यह गीत रवि बाबू की उस तुकबन्दी से शायद अच्छा बन पड़ा है, कम से कम मुझे तो यही सोचना चाहिए।

कई कारणों से मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत संग्रह हिन्दी-प्रेमियों को "पल्लव" से अधिक रुचिकर प्रतीत होगा, क्योंकि यह उतना अच्छा नहीं।

२५ अगस्त २७
बेली रोड, प्रयाग

श्रीसुमित्रानन्दन पन्त

संशोधन

अ नीर	अश्रु-नीर	७ पृष्ठ	१० पंक्ति
कन	कण	२५	११
छि	छिपा	५६	४
दिखा	दिखाई	७३	१५

सूची

उत्सर्ग

नव वसन्त-ऋतु में आओ	...	...	..	१
तुहिन-बिन्दु बनकर सुन्दर	...	...	...	३
बढ़ा और भी तो अन्तर	...	...	...	५
यह चरित्र मा ! जो तूने है	...	...	..	६
आज वेदने ! आ, तुझको भी	...	...	...	७
मम जीवन की प्रमुदित-प्रात	...	...	...	८
हाय ! कहेगा क्या संसार	...	...	...	९
काला तो यह बादल है !	...	...	...	१०
द्वार भिखारी आया है	...	...	...	११
जब मैं कलिका ही थी केवल	...	...	...	१२
कौन कौन तुम परिहत-वसना	...	...	...	१३
बालकाल में जिसे जलद से	...	...	...	१४
जब मैं थी अज्ञात-प्रभात	...	...	...	१६
करुणा-क्रन्दन करने दो	...	...	...	१७
धनिक ! तुम्हारे यहां भिखारी	...	...	...	१८
मिले तुम राकापति में आज	...	...	...	१९
ये तो हैं नादान-नयन !.	...	...	...	२१
मेरे मानस का आवेश	...	...	...	२३
उस सीधे-जीवन का श्रम	...	...	...	२४
इस अबोध की अन्धकारमय	...	...	...	२५
मैं सबसे छोटी होऊँ	...	...	...	२७
निज अञ्जुल में धर सादर	...	...	...	२८
हाय ! जगाने पर भी तो मैं	...	...	...	३०
मकड़ी का मृदु माया-जाल	...	...	...	३१

अब न अगोचर रहो सुजान	...	...	...	३२
बताऊँ मैं कैसे सुन्दर !	...	...	...	३४
प्राण ! प्रेम के मानस में	...	...	...	३५
स्नेह चाहिए सत्य सरल	...	...	...	३६
तजकर वसन-विभूषण-भार	...	...	...	३८
मा ! काले रँग का दुकूल नव	...	...	...	३९
कैसा नीरव मधुर-राग यह	...	...	...	४०
कर-पुट में पुष्पाञ्जलि धर	...	...	...	४१
इस पीपल के तरु के नीचे	...	...	...	४२
निर्झर की अजस्र झर् झर्	...	...	...	४५
विलोड़ित सघन-गगन में आज	...	...	...	४६
कुमुद-कला को लेने जब मैं	...	...	...	४७
मा ! अल्मोड़े में आये थे	...	...	...	४९
उस विकसित, वासित-वन में	...	...	...	५०
लतिका के कम्पित-अधरों से	...	...	...	५१
श्रूयते हि पुरा लोके	...	...	...	५२
मुझे सोचने दो सजनी	...	...	...	५४
मधुरिमा के मृदु-हास !	...	...	...	५५
तरल-तरङ्ग-रहित अविचल	...	...	...	५६
श्रवण चाहिए अलि ! केवल	...	...	...	५७
आँखों के अविरल-जल को	...	...	...	५९
तुम्हारे कोमल अङ्ग	...	...	...	६०
तब फिर कैसा होगा मात !	...	...	...	६१
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !	...	...	...	६३
छोटे ही की क्या पहचान ?	...	...	...	६४
चपल-पलकों के साथ	...	...	...	६५
मरु भी होगा नन्दन-वन !	...	...	...	६६
अँगड़ाते-तम में	...	...	...	६९
तिलक ! हा ! भाल-तिलक !	...	...	...	७०
सखी ! सूखी-विन्दाल	...	...	...	७१

तेरा अद्भुत है व्यापार	...	...	...	७२
मेरे इस अन्तिम-विलास में	...	...	...	७४
हृदय के वन्दी-तार	...	...	...	७६
प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि !	...	...	...	७७
गहन-कानन !	...	...	...	८१
इस विस्तृत-हौस्टल में	...	...	...	८२
यह दुख कैसे प्रकटाऊँ !	...	...	...	८३
दिवानाथ का विपुल-विभव जब	...	...	...	८५
मिला-मिलाकर सुन्दर-स्वर	...	...	...	९०

उत्सर्ग

जननि ! सुना दे मृदु-झङ्कार !
मधु-बाला की मृदु-बोली-सी
तेरी वीणा की गुञ्जार
खिला कई कवि-कुल-कमलों को
सुरभि कर चुकी है सञ्चार।

मधुर-प्रतिध्वनि सुनकर उसकी
नव-कलियाँ सजती शृङ्गार,
यह तो तुतली-बोली में है
एक बालिका का उपहार;
यह अति अस्फुट, ध्वन्यात्मक है,
बिना व्याकरण, बिना विचार!

इस बोली में कौन सुनेगा
इसकी वीणा को निस्सार ?
ताल-लय-रहित मेरी वीणा
वीणा-वादिनि ! कर स्वीकार !

वीणा

(१)

नव वसन्त-ऋतु में आओ,
नव-कलियों को विकसाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
तरुण-उषा की अरुण-अधखुली
आँखों से मत बिंधवाओ,
मानिनि ! मञ्जुल मलयानिल से
यों विरोध मत बढ़वाओ !

इन नयनों को समझाओ,
इन्हें न लड़ना सिखलाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
कमल-कली में इन्हें डालकर
हाय ! न यों ही ढुलकाओ,
अज्ञाता की केश-राशि में
इन्हें न कस कस बँधवाओ !

आओ, कोकिल बन आओ,
ऋतुपति का गौरव गाओ,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
अधरामृत से इन निर्जीवित
शब्दों में जीवन लाओ,
आँखों ने जो देखा, कर को
उसे खींचना सिखलाओ !

(१९१८)

(२)

तुहिन-बिन्दु बनकर सुन्दर,
कुमुद-किरण से सहज उतर,
मा ! तेरे प्रिय पद-पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ—
इस ऊषा की लाली में !

तरल-तरङ्गों में मिलकर,
उछल-उछलकर, हिल-हिलकर,
मा ! तेरे दो श्रवण-पुटों में
निज क्रीड़ा-कलरव भर दूँ—
उमर अधखिली बाली में !

रजत-रेत बन, कर झलमल,
तेरे जल से हो निर्मल,
[illegible]

बन मरीचिका-सी चञ्चल,
जग की मोह-तृषा को छल,
सूखे-मरु में मा! शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख धर दूँ—
यौवन की मद-लहरी में!

विटप-डाल में बना सदन,
पहन गेरुवे रँगे वसन,
विहग-बालिका बन, इस बन को
तेरे गीतों से भर दूँ—
सन्ध्या के उस शान्त-समय!

कुमुद-कला बन कल-हासिनि,
अमृत-प्रकाशिनि, नभ-वासिनि,
तेरी आभा को पाकर मा!
जग का तिमिर

(३)

बढ़ा और भी तो अन्तर !
जिनको तूने सुखद-सुरभि दी,
मा ! जिनको छबि दी सुन्दर,
मैं उनके ढिग गई व्यग्र हो
तुझे ढूँढ़ने को सत्वर !

मधु-बाला बन मैंने उनके
गाये गीत, गूँज मृदुतर,
पर मैं अपने साथ तुझे भी
भूल गई मोहित होकर !

(१९१८)

(४)

यह चरित्र मा ! जो तूने है
चित्रित किया नयन सम्मुख,
गा न सकी यदि मैं इसको तो
मुझको इसमें भी है सुख !

वह बेला जो बतलाई थी
तूने अरुणोदय के पास,
पा न सकी यदि उसमें तुझको
मैं तब भी हूँगी न विमुख !

वे मोती जो दिखलाये थे
तूने ऊषा के बन में
उन्हें लोग यदि ले लेंगे तो
मलिन न होगा मेरा मुख !

तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,
यह जग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?

(१९१८)

(५)

आज वेदने ! आ, तुझको भी
गा-गाकर जीवन दे दूँ—
हृदय खोल के रो-रोकर !

अविरल-आहों में भर-भरकर
उस कठोर-मन की घातें,
मुरझी-मालाओं से गिन-गिन
चिर-वियोग-दुख की रातें;
सजनि ! निराशा में विलीन हो
तुझको निज तन-मन दे दूँ—
अ -नीर से धो-धोकर !

जिस मलिन्द की छवि-मदिरा की
मादकता तू लाई है,
पिला-पिला जिसको, नयनों की
तूने प्यास बढ़ाई है;
उसे तुझी में पाकर तुझको
अपना नव-यौवन दे दूँ—
सजनि ! विमूर्छित हो-होकर !

(१९१८)

(६)

मम जीवन की प्रमुदित-प्रात
सुन्दरि ! नव आलोकित कर !

विकसित कर, नव-सुरभित कर,
गुञ्जित कर, कल कुञ्जित कर,
खिला प्रेम का नव जलजात,
बढ़ा कनक-कर निज मृदुतर !

निर्मल कर, अति उज्ज्वल कर,
मञ्जुल कर, मुद-मङ्गल कर,
जीवन-ज्योति जला अवदात,
ज्वालामय कर उर-अम्बर !

मेरे चञ्चल-मानस पर
पाद-पद्म विकसा सुन्दर,
बजा मधुर-वीणा निज मात !
एक गान कर मम अन्तर !

(१९१८)

(७)

हाय ! कहेगा क्या संसार !
भला इसे मैं क्यों पहनूँगी ?
यह कैसा मणियों का हार !
मैं तो अपनी हार स्वयं ही
पहन चुकी हूँ बारम्बार !

जब खद्योतों से खेलूँगी
विजन-निशा में, मैं उसपार,
इन मणियों की आभा से तब
दुख पहुँचेगा उन्हें अपार !

फिर पीपल के नीचे मुझसे
नहीं मिलेंगे वे सुकुमार,
जहाँ प्रकाशित करते हैं वे
मेरी आशा का संसार ।

(१९१८)

(८)

काला तो यह बादल है !
कुमुद-कला है जहाँ किलकती
वह नभ जैसा निर्मल है,
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ मा !
काला तो यह बादल है !
मेरा मानस तो शशि-हासिनि !
तेरी क्रीड़ा का स्थल है,
तेरे मेरे अन्तर में मा !
काला तो यह बादल है !

तेरी किरणों से ही उतरा
मोती-सा शुचि हिम-जल है,
मा ! इसको भी छू दे कर से
काला जो यह बादल है !
तब तू देखेगो मेरा मन
कितना निर्मल, निश्छल है,
जब दृग-जल बन बह जावेगा
काला जो यह बादल है !

(१९३८)

(६)

द्वार भिखारी आया है,
भिक्षा दो, भिक्षा, सुन्दर !
कर चञ्चल मञ्जुल मुसकान,
तम का मुख काला कर प्राण !
गरज, गरज, कुछ शिक्षा दो,
शिक्षा दो, हे शिक्षाकर !
दया-द्रवित हो दया-निधान !
नम्र-निवेदन कर यह कान,
अये मुक्त ! शुचि मुक्ता दो,
मुक्ता दो, थाली भर भर !

क्षीण-कण्ठ कर रहा पुकार,
जलधर से बनकर जलधार,
प्यास लगी है पानी दो,
पानी दो, जीवन-जलधर !
स्नेह-अश्रु-जल से अविरल
धो दो मेरा मल, निर्मल !
तप्त-हृदय शीतल कर दो,
शीतल कर दो, आतपहर !

(१९१८)

(१०)

जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल,
मैं कहती थी मेरा मृदु-मुख
शशि के कर खोलें शीतल !

पर, आँखें खुलते ही मैंने
अन्धकार देखा,—सविकल
स्वर्ण-दिशा को देख, सजल-दृग,
तुम्हें पुकारा हे उज्ज्वल !

(१९१८)

दीप-शलभ ने जिसे मिचौंनी
खेल खेल कर हुलसाया,
कुसुमों ने हँसना सिखलाया,
मृदु-लहरों ने पुलकाया;
जिसे ओस-जल ने दुलकाया,
धवल-धूलि ने नहलाया,
उसे कुसुम-सा गूँथ न ले अलि !
कुटिल-कुन्तलों में काले,—
मेघों से भी है अनुराग

जिसका सुन्दर-छवि रूपा है,
नव-वसन्त जिसका शृङ्गार,
तारे हार, किरीट सूर्य-शशि,
मेघ केश, स्नेहाश्रु तुषार;
मलयानिल मुख-वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु-बाँहों में लिपटा ले,—
रमा अंग में प्रेम-पराग !

(१९१८)

(१३)

जब मैं थी अज्ञात-प्रभात,—
मा ! तब मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात !
तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुन्दर;
तू उमङ्ग थी, मैं उत्पात !
अब तेरी छाया सुखमय
अन्धकार में नीरवता बन
मा ! उपजाती है विस्मय !

\+ + + + + + + +

उठ रे, उद्यत हो अज्ञात !
स्तब्ध हुआ है सब संसार,
इस नीरवता से तू कर ले
अपने साधन का शृङ्गार,
यह सुहाग की है प्रिय-रात !
यह दीपक अपने सम्मुख धर,
जिससे पीछे गिरे मोह की
छाया, अन्तर हो गोचर;
वह भविष्य हावे अवदात !

(१९१९)

(१४)

करुणा-क्रन्दन करने दो !
अविरल स्नेह-अश्रु-जल से मा !
मुझको मति-मल धोने दो,
दग्ध-हृदय की विरह-व्यथा को
हरने दो, मा ! हरने दो !
मुझे चरण में शीश नवाकर
अवनत-वदना होने दो,
उर-इच्छा को एक आह बन
झरने दो, मा ! झरने दो !

मानस-शय्या पर मेरी इन
वाञ्छाओं को सोने दो,
अपना अञ्चल निज स्वप्नों से
भरने दो, मा ! भरने दो !
ग्राह, मोह, छल, मदन, मद मुझे
निज सङ्गति से खोने दो,
हाथ पकड़, यह विश्व-महोदधि
तरने दो, मा ! तरने दो !

(१९१८)

(१५)

धनिक ! तुम्हारे यहाँ भिखारी
भिक्षा लेने आया है,
नहीं इसलिए—तुम थाली भर
मणि-मुक्ता दोगे सुन्दर !

किन्तु इसलिए आया है प्रिय !
वह तुमने अपनाया है,
स्नेह-सहित तुम जो कुछ दोगे,
वह कृतार्थ होगा सत्वर ।

(१९१८)

(१६)

मिले तुम राकापति में आज
पहन मेरे दृग-जल का हार;
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जल-धार,
नहीं फिर भी तो आती लाज...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

हुआ था जब सन्ध्या-आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ओर,
विहग-रव बन कर मैं चितचोर !
गा रहा था गुण, किन्तु कठोर !
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक !...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

याद है क्या न प्रात की बात ?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन, प्राण ! लगाने धूल
पास आया मैं, चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मैं भी वृक्ष-करील,
रात-दिन दृष्टि-द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हें, (यही क्या शील !)
न आये पास, सजा नव साज...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

अभी मैं बना रहा हूँ गीत
अश्रु से एक एक लिख घात
किया करते हो जो दिन-रात,
बुझाते हो प्रदीप, बन बात,
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत...
निठुर ! यह भी कैसा अभिमान ?

(१९१९)

(१७)

ये तो हैं नादान-नयन !
वारि-विनिर्मित वारिद-दल,
मञ्जु-मेल की मूर्ति विमल,
निर्मलता के निलय नवल क्यों
इन्हें दिखाई देते श्याम ?

वे वासव के शुचि-वाहन,
रोहित-रञ्जित गिरि-मण्डन,
प्रकृति-देवि के नव-जीवन क्यों
इन्हें नहीं लगते अभिराम ?

ये तो हैं निर्बोध-श्रवन !
जिन्हें वारि ने उपजाया,
दिनकर ने है विकसाया,
विमल-वायु ने समुद झुलाया
जिन्हें खिलाकर अपनी गोद;

उनका मञ्जुल मोद-मिलन,
गुरु - गम्भीर - गहन - गर्जन,
चपला-चुम्बित अभिवादन क्यों
इन्हें नहीं देता आमोद ?

छोड़ उच्चतम नील-गगन—
इन नयनों में समुद्र उतर,
इन श्रवणों में मृदु-स्वर भर,
इनसे नहीं मिले आकर वे
इसी लिए क्या हैं श्यामल ?

पर, जब पी-पी ध्वनि सुनकर,
अविरल पिघल-पिघल, झर-झर,
गिरते हैं बन हिम-सीकर वे
तब कहलाते निर्मल-जल !
कैसा भोला है यह मन !

(१९१९)

(१८)

मेरे मानस का आवेश,
तेरी करुणा का उन्मेष,
भीरु-घनों-सा गरज गरजकर
इसे न मुरझा जाने दे!
निज चरणों में पिघल पिघलकर
स्नेह-अश्रु बरसाने दे!

भव्य-भक्ति का भावन मेल,
तेरा मेरा मञ्जुल खेल,
सघन-हृदय में विद्युत-सा जल
इसे न मा! बुझ जाने दे,
मलिन मोह की मेघ-निशा में
दिव्य-विभा फैलाने दे।

विश्व-प्रेम का रुचिकर-राग,
पर-सेवा करने की आग,
इसकी सन्ध्या की लाली-सी
मा! न मन्द पड़ जाने दे,
द्वेष-द्रोह का सान्ध्य-जलद-सा
इसकी छटा बढ़ाने दे।

(१९१८)

(१६)

उस सीधे-जीवन का श्रम
हेम-हास से शोभित है नव
पके धान की डाली में,—
कटनी के घूँघुर रुन-झुन
(बज बजकर मृदु गाते गुन,)
केवल श्रान्ता के साथी हैं
इस ऊषा की लाली में।

मा ! अपने जन का पूजन
स्वीकारो 'पत्रं पुष्पम्',
सरल नाल-सा सीधा-जीवन
किन्तु मञ्जरी से भूषित,
बाली से शृङ्गार तुम्हारा
करता है वय-बाली में !

सास-ननद भय, भूख अजय,
श्रान्ति, अलस औ' श्रम-अतिशय,
तथा काँस के नव-गहनों से
अर्चन करता है सादर—
आश्विन सुषमाशाली में !

(१९१८)

(२०)

इस अबोध की अन्धकारमय
करुण-कुटी पर करुणा कर
अयि रन्ध्र-मग-गामी ! स्वागत,
आओ, मुसका उज्ज्वलतर !

रजत-तार-से हे शुचि-रुचिमय !
हे सूची-से कृशतर-अङ्ग !
इस अधीर की लघु-कुटीर का
तिमिर चीरकर, कर दो भङ्ग

हे करुणाकर के करुणा-कर
तुम अदृश्य बन आते हो,
रज-कण को छू, बना रजत-कन,
प्रचुर-प्रभा प्रकटाते हो।

अरुण अधखुली आँखें मलकर
जब तुम उठते हो छविमय!
रङ्ग-रहित को रञ्जित करते,
बना हिमालय हेमालय।

तुम बहु-रङ्गी होने पर भी
सदा शुभ्र रहते हो नाथ!
मुझको भी इस शुभ्र-ज्योति में
मज्जित कर लो अपने साथ।

हे सुवर्णमय! तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुन्दर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद-पद्म अमर।

और नहीं तो, अपना ही-सा
मुझको भी सीधा-जीवन
हे सीधे-मग-गामी! दे दो,
दिव्य अप्रकट-गुण पावन।

(१९१८)

(२१)

मैं सबसे छोटी होऊँ,
तेरी गोदी में सोऊँ,
तेरा अञ्चल पकड़ पकड़कर
फिरूँ सदा मा ! तेरे साथ,
कभी न छोड़ूँ तेरा हाथ !

बड़ा बनाकर पहिले हमको
तू पीछे छलती है मात !
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे
साथ नहीं फिरती दिन-रात ।
अपने कर से खिला, धुला मुख,
धूल पोंछ, सज्जित कर गात,
थमा खिलौने, नहीं सुनाती
हमें सुखद परियों की बात ।

ऐसा बड़ा न होऊँ मैं,
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं,
तेरे अञ्चल की छाया में
छिपी रहूँ निस्पृह, निर्भय,
कहूँ—दिखा दे चन्द्रोदय !

(१९१८)

(२२)

निज अञ्चल में धर सादर,
वासन्तो ने यह नव-कलिका
जो तुझको दी है उपहार,
हेम-हासमय सुखद प्रात को
किया जगत का जो शृङ्गार;

मा ! इस नव-कलिका का तन,
कोमलता से कोमलतम,
इस निकुञ्ज के काँटों से क्या
विंध न जायगा अति असहाय ?
प्रखर-दोपहर में दिनकर-कर
सहन कर सकेगा क्या हाय !

क्या हिम का अकरुण-आघात
सह लेगा इसका मृदु-गात ?
यही निबल-कलिका लतिका का
मा ! क्या वंश बढ़ावेगी ?
मधुप-बालिका का क्या यह ही
मा ! मानस बहलावेगी ?

यह तेरी अति नूतन नीति
मा ! यह तेरी न्यारी रीति
तेरी सुखमय-सत्ता जग को
कहाँ नहीं जतलाती है ?
जहा छिपाती है अपने को
मा ! तू वहीं दिखाती है !

(१९१८)

(२३)

हाय ! जगाने पर भी तो मैं
सजनि ! न अब तक जगती थी,
सोई थी मैं, इसीलिए तो
जग को भारी लगती थी।
स्वप्न देखती थी मैं मादक,
किन्तु अचिर, अस्फुट-सुखमय,
लता-कुञ्ज में सोई हूँ मैं
सुरभित-सुमनों पर निर्भय !

कभी पूजती हूँ पुष्पों के
प्याले में किसका यौवन
भर भर पिला रहे मधुकर को
हे ऋतुपति ! हे धरा-रमण !

कुञ्ज-विहारी से कहती हूँ
कभी—मधुप ! निज मादक-राग
इस कलिका के ढिग मत गाओ,
नहीं जानती यह अनुराग !
वह निद्रा, सुख-स्वप्न सजनि ! वे
एक साथ ही सब छूटे,
एक एक कर हृदय-हार के
बन्धन अब मेरे टूटे !

(१९१८)

(२४)

मकड़ी का मृदु माया-जाल
इस रसाल के सघन-शाल में
जीवन-शून्या के दृग-जल का
पहना है शुचि मुक्तामाल !
आम्र-मञ्जरी की मृदु-वास,
विकसित-किसलय, मधुमय-हास,
इस वसन्त में कितनों का है
अन्त कर चुका अचिर-प्रकाश !
फैला छवि के बाहु-मृणाल !

\+ + + + + + + +

मा ! मेरे अरि को बल दो,
उसको यही कठिन फल दो,
जिससे सतत सतर्क रहूँ मैं,
निज अवलम्ब अचञ्चल दो,
सदा स्वेदमय रख यह भाल !
मुझे मृणाल-तन्तु से बाँध,
करना सफल न अरि की साध,
कठिन-निगड़ से बँधवाकर मा !
धीरज देना अटल, अगाध;
निडर काल से कर विकराल !

(१९१९)

(२५)

अब न अगोचर रहो सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अन्धकार, स्वप्नों के यान !
किसके पद की छाया हो तुम ?
किसका करते हो अभिमान ?

तुम अदृश्य हो, दृग-अगम्य हो,
किसे छिपाये हो छबिमान !
मेरे स्वागत-भरे हृदय में
प्रियतम ! आओ, पाओ स्थान !

जब मैं अपने नयन मूँदकर
करती प्रियतम के गुण-गान,
तब किस पथ से आ तुम मुझको
देते हो नित दर्शन-दान ?

जग अदृश्य कर मेरे दृग से
प्रियतम में लगवा ध्रुव-ध्यान,
तुम तुरन्त ही, हे अनन्तगति !
हो जाते हो अन्तर्धान !

जब तुम मुझे गभीर-गोद में
लेते हो, हे करुणावान !
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नहीं प्रमाण !

प्रथम-रश्मि का स्पर्शन कर नित,
स्वर्ण-वस्त्र करके परिधान,
तुम आश्वासन देते हो प्रिय !
जग को उज्ज्वल और महान ।

जब प्रदीप के सम्मुख मैं भी
गई जलाने निज अज्ञान,
तब तुम उसके चरणों में थे
पाये हुए सुखद सम्मान,

अपने काले-पट में मेरा
प्रिय ! लपेटकर मत्सर-मान
रङ्ग-रहित होकर छिप रहना
मुझको भी बतला दो प्राण !

(१९१८)

(२६)

बताऊँ मैं कैसे सुन्दर !
एक हूँ मैं तुम से सब भाँति ?
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक-पाँति !

दिखा सकता है क्या शुचि-सर
कभी अपना अनन्य समतल ?
कहो क्या दर्पण ही निर्मल
दिखा सकता निज मुख उज्ज्वल ?

कौन हो तुम उर के भीतर,
बताऊँ मैं कैसे सुन्दर ?

(१९१८)

(२७)

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन-सा हिलकर अविरल
शीतलता सरसाने दो,
अपने मुख से जग-चिन्ता के
श्रम-कन सदय ! सुखाने दो।

वंशी-सा सीधा बनकर,
तान सुनाकर श्रुति-सुखकर,
मुझे प्रेम का नीरव-मानस
सुन्दर ! शब्दित करने दो,
अपने गौरव के गीतों से
प्रियतम ! उसको भरने दो।

नव-वसन्त का विकसित-वन,
मधुमय-मन, मृदु सुरभित-तन,
एक कुसुम-कलिका उस वन की
मुझको भी कहलाने दो,
मधु-बाला का हृदय मनोहर !
मुझको भी बहलाने दो।

(१६१८)

(२८)

स्नेह चाहिए सत्य, सरल !
कैसा ऊँचा-नीचा पथ है
मा ! उस सरिता का अविरल
तेरे गीतों को वह जिसमें
गाती है टल् टल् छल् छल् ।

मैं भी उससे गीत सीखने
आज गई थी उसके पास,
उसके कैसे मृदुल-भाव हैं ?
उज्ज्वल तन, मन भी उज्ज्वल !

कितने छन्दों में लहराकर
गाती है वह तेरे गीत ?
एक-भाव से अपने सुख-दुख
तुझे सुनाती है कल् कल् ?

मा ! उसको किसने बतलाया
उस अनन्त का पथ-अज्ञात ?
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल ?

एक ग्रन्थि भी नहीं पड़ी है
उसके सरल मृदुल उर में,
उसका कैसा कर्म-योग है,
वह चञ्चल है, या अविचल ?

(१९१८)

(२६)

तजकर वसन-विभूषण-भार,
अश्रु-कणों का हार पहनकर
आज करूँगी मैं अभिसार !

यह नव-मुकुलित लता-भवन,
गुञ्जित-कुञ्ज, विजन-कानन,

चिर-उत्सुकता की छाया से
मौन-मलिन हो रहा अपार !

हिला-हिला निज मृदुल-अधर
कहते कुछ तरु-दल मर् मर्,

अन्धकार का अलसित-अञ्चल
अब द्रुत ओढ़ेगा संसार !

दिखलाई देगा जग श्याम,
तृषित हो रहा मम हृद्धाम,

यह तृष्णा ही कौस्तुभ-मणि बन
मुझे दिखावेगी वह द्वार,
बन उसका हृदयालङ्कार !

(१६१६)

(३०)

"मा! काले रँग का दुकूल नव
मुझको बनवा दो सुन्दर,
जिसमें सब कुछ छिप जाता है,
रहती नहीं धूलि की डर;
जिसमें चिह्न नहीं पड़ते, जो
नहीं दीखता है श्री-हीन,
लोग नहीं तो हँसी करेंगे
देख मुझे मैली औ' दीन।"

"अरी अभी तू बच्ची ही है
कृष्णे! निरी अबोध, चपल,
मैं मलमल की साड़ी तुझको
बनवाऊँगी फेनोज्ज्वल;
दिखलाई दें जिसमें सबको
तेरे छोटे से भी अङ्ग,
बार-बार सहमे तू जिससे
रहे शुद्ध नित स्वच्छ, सशङ्क!"

(१९१८)

(३१)

कैसा नीरव मधुर-राग यह
शिशु के कम्पित-अधरों पर
सजनि! खिल रहा है रह-रह!

किन स्वप्नों की स्मृति सुखमय
उदय हुई है यह अक्षय?
आँखमिचौनी-सी अधरों से
कौन खेलता है छिपकर,
मृदु-मुसकानों में बह-बह!

अलि! यह किसका सरल-हृदय
अधरों पर बिम्बित छविमय?
यह किसकी जीवित-छाया है?
किस नव-नाटक का उपक्रम?
किन भावों का चित्र-चरम?

अये मृदुल! यह किसके गीत
गाते हो तुम मधुर, पुनीत?
प्रकट क्यों न कुछ कहते हो? क्या
वे इतने हैं गुप्त, परम?
यह कैसा परिहास, सुषम!

(१९१९)

(३२)

कर-पुट में पुष्पाञ्जलि धर,
अश्रु-नीर से मानस भर,

तेरा गौरव गाती हूँ मैं
अवनत-वदना हो जब प्रात,
तुझको नित्य बुलाती हूँ मैं
सजल-लोचना हो जब मात !

धारण कर तेरा ध्रुव-ध्यान,
दृग-सम्मुख ला मूर्ति महान,

नयन मूंद लेती हूँ जब मैं
तुझको निज मन में अनुमान,
गद्‌गद हो रो देती हूँ मैं
जब अति भावाकुल हो प्राण !

जब मेरा चिर-सञ्चित-प्यार
उमड़ उदधि-सा अतल, अपार,

अपने नीरव गूढ़-गर्भ में
मुझे डुबाता है गम्भीर,
द्रोह, मदन, मद का मल मेरा
धो देता है जब दृग-नीर !

तब मेरे सुख का अनुमान
क्या तू कर सकती है प्राण !

कह ? क्या तू भी गा सकती है
इतने सुख से अपने गीत ?
कभी देख सकती है तू भी
क्या अपनी यह मूर्ति-पुनीत ?

मा ! तेरा अति रम्य-स्वरूप,
तेरे गुण-गण अतुल, अनूप,

नयन-नीरजों में तेरे भी
बँधते हैं, बन चोर-अजान ?
क्या तुझसे भी लेते हैं ये
कभी स्नेह-मधु-सिञ्चित-दान ?

सर्व शक्तिमत्ता तेरी
यह क्या नहीं जननि ! मेरी ?

यह मुझको ही तो तापों से
रक्षित रखती है दिन-रात,
तुझे तभी तो मैं अपने से
दुर्बल बतलाती हूँ मात !

(१९१८)

(३३)

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !
जहाँ मलिनता विचर रही है,
जहाँ शून्यता का है स्रोत।

सदन लौटता हुआ प्रवासी
तप्त-अश्रु-जल-अञ्जलि दे,
पूत कर गया था जिस तरु को
सकल स्वार्थ की निज बलि दे।

क्षीण-ज्योति में निज, किसका धन
ढूँढ़ रहे हो कर तम भङ्ग,
किस अज्ञाता के जीवन को
ज्योतित हो कर रहे, पतङ्ग ?

उस निर्दोषा का क्या जिसकी
वायु - भक्षिणी वेणी में
पड़कर तड़पा हाय ! प्रवासी
लुटे हुओं की श्रेणी में !

किन्तु शलभवर ! उसे न छेड़ो,
सोने दो उसको उसपार,
वहीं स्वप्न में पा लेगी वह
अपने प्रियतम का उपहार ।

जब जीवन के स्रोत सम्मिलित
हो जाते हैं किसी प्रकार,
उन्हें नहीं तब बिछुड़ा सकता
सखे ! स्वयं तारक-करतार ।

(१९१८)

(३४)

निर्झर की अजस्र झर् झर् !
आओ, मन ! नव-पाठ सीख लो
इस गिरि-निर्झर के रव से,
यह निर्मल जल-स्रोत गिर रहा
गिरि के चरणों में कब से !
अपनी वीणा में स्वर भर,—
आओ, इसके पास बैठकर
यह अनन्त-गाना गा लो,
इसका उज्ज्वल-वेग देख लो,
तुम भी दृग-जल बरसा लो !

निर्झर की निर्भय झर् झर् !
निबल ! देख लो शीतल-जल में
अन्तर्हित इच्छा की आग,
भूरि-भिन्नता में अभिन्नता,
छिपा स्वार्थ में सुखमय-त्याग !
गा लो वीणा में स्वर भर,—
जो न अश्रु-अञ्जलि देता हो
वह क्योंकर सुख पायेगा ?
जिसे नहीं देना आता हो
वह किससे कैसे लेगा ?
फिर गिरि-निर्झर की झर् झर् !

(१९१९)

(३५)

विलोड़ित सघन-गगन में आज,
विचर रहा है दुर्बल-घन भी
धर कर भीमाकार,—
बना है कहीं—क्रुद्ध-गजराज !
गर्जन सुनकर काँप रहा है
मा ! कर्तव्य अपार,—
चपल करती है पल-पल गाज !

भिखारी बन सारङ्ग-समाज
उधर पुकार रहा है पी, पी,
गूँथ अश्रु-जल हार,—
जननि ! करने तेरा शृङ्गार,
परीक्षा का कठोर ले ब्याज !
अभी दयामयि ! क्या न खुलेगा
तेरा मुक्ताहार ?—
छिपी मरु-थल में जल की धार
वृष्टि के बाद नीलिमोद्धार ?

(१६१६)

(३६)

कुमुद-कला को लेने जब मैं
रोई थी निज बचपन में,
तब मेरी मा कहती थी वह
रहती है नभ के बन में।

पर शिशुता-वश नहीं सुना था
मैंने उसका समझाना,
तब मा ने था मुझे मनाया
दिखला शशि-छवि दर्पण में।

मैं तब कितनी अनभिज्ञा थी!
प्रतिबिम्बित-शशि को पाकर
मुसकानों में गा-गा, उससे
क्रीड़ा करती थी मन में!

यही सोचती थी शशि-बाला
सचमुच मेरे कर में है,
आनन्दित होती थी उसको
पा उस प्रतिमा-पूजन में !

धीरे-धीरे अब तू अपना
दिव्य-द्वार है खोल रही,
पल-पल अपनी प्रयत-प्रभा है
प्रकटाती इस जीवन में।

मा ! वह दिन कब आवेगा जब
मैं तेरी छबि देखूँगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल-दर्पन में ?

(१९१८)

(३७)

"मा ! अल्मोड़े में आये थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमन्द ;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि ! नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा!
मन्द-दृष्टि कुछ रखते हैं ?"

"कृष्णे ! स्वामीजी तो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय,
दिव्य-दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कण्टकमय;
वह मखमल तो भक्ति-भाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के।"

(१९१८)

(३८)

उस विकसित, वासित-बन में
कुसुमों के अस्फुट-अधरों पर
सिहर रहा है कौन विकल,
अलि ! चञ्चल होकर पल-पल !

यह किसका नादान-हृदय
बहा चुका है बल-सञ्चय ?
तुहिन-विन्दु बन ढुलक रही है
किसकी जीवन-विजय धवल,
सजनि ! मोह से हो निर्बल !

वह जाग्रति का जीवित-गीत,
अलि-बाला गाती सु-पुनीत,
गूँज उठे इस मधु-सेवा से
दुर्बल-हृदयों में नव-बल,
जीवन का, जग का मङ्गल !

(१९१९)

(३९)

लतिका के कम्पित-अधरों से
यह कैसा मृदु अस्फुट-गान
आज मन्द-मारुत में बहकर
खींच रहा है मेरा ध्यान !

किस प्रकाश का गूढ़-चित्र यह
आज धरित्री के पट पर
पत्रों की मायाविनि-छाया
खींच रही है रह-रहकर !

छबि की चपल-अँगुलियों से छू
मेरे हृत्-तन्त्रो के तार
कौन आज यह मादक, अस्फुट
राग कर रहा है गुञ्जार !

महानन्द का क्या ऐसा ही
नीरव होता है सङ्गीत ?
मनोयोग की वीणा मेरी
मा ! जिसने की आज पुनीत !

(१९१९)

(४०)

श्रयत हि पुरा लोके—
विस्तृत मरु-थल के उस पार
जहाँ स्वप्न सजते शृङ्गार,
छवि के बन में एक नाल में
दो कलिकाएँ फूली हैं,
कलित कल्पना की डाली में
जो अतीत से झूली हैं;
जो मधु, धूलि, सुगन्धि-रहित हैं
दिव्य-रूप करतीं विस्तार,
जहाँ स्वर्ण की आशा-अलिनी
गाती है, कर स्वप्न-विहार।

जब यह मरु रवि के आतप में
तप्त छोड़ता है निःश्वास,
उस छबि के बन में ऊषा का
रहता है तब भी मृदु-हास।
वह सोने की आशा-अलिनी
करती है जब मृदु-गुञ्जार,
तब सुख हँसता, औ' दुख गाता,
विश्व दीखता एकाकार!

उस छबि के मञ्जुल-उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग में दुख पाता है।
बालू का प्रति-कण इस मरु का
मेरु-सदृश हो उच्च-अपार
भारु-पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण-सरित की धार!

(१९१९)

(४१)

मुझे सोचने दो सजनी—
एक विहग-बालिका बनी
आज अकेली बैठी हूँ मैं
उस नीरव-तरु के ऊपर,
जहाँ स्वप्न हैं रहे विचर !
पत्रों के मृदु-अधरों से
जहाँ शून्य-सङ्गीत प्राण का
फूट रहा है अभय, अमर !
ये पीले-पीले प्रियतर
अन्तिम-आभा के कृश-कर
मेरा स्वर्ण-सदन स्वप्नों का
छीन रहे हैं छिप-छिपकर ।

आओ शिव ! आओ सुन्दर !
मुझे सौंपने दो तुमको
अपनी वाञ्छाएँ रज-कण-सी,
होने दो निश्चिन्त, निडर !
निज वियोग की बाँहों में
मुझे सदा को बँध जाने दो,
फिर चाहे मेरा अन्तर
अन्धकार होवे दुस्तर !

(१९१९)

(४२)

मधुरिमा के मृदु-हास !
किस अदृश्य-गुण से तुम मुझको
खींच रहे हो पास ?
सुनाई देता है बस गीत,
बुलावे की यह कैसी रीति ?

हृदय के सुरभित-साँस !
चपल-पलक से छूकर मुझको
निर्बल कर, किस ओर,
भुलावे में तुम कुसुम-कठोर !
बहाते हो ? न कहीं है छोर !

बैठकर मैं इस पार,
शून्य-बुद्बुदों से सुनती हूँ
जीवन का सङ्गीत,
तुम्हारा मौन-निमन्त्रण मीत !
विश्व का अन्तिम-गान पुनीत !

कहाँ हो कर्णधार !
लघु-लहरों में खेल रही है
मेरी हलकी - नाव,
न तुमसे है प्रिय ! तनिक दुराव
जानते हो सब मन के भाव !

(१९१९)

(४३)

तरल-तरङ्ग-रहित, अविचल,
सरसी के जल का समतल
नहीं दिखाई देता ज्यों मा !
बिना हिलाये उसका जल;
अपनी ही छवि का प्रतिफल
प्रतिबिम्बित होकर अविरल,
दिखलाई देता ज्यों अविकल
उसके समतल में निश्चल ।

वैसे ही तेरा संसार
अति अपार यह पारावार,
नहीं खोलता है मा ! अपने
अद्भुत-रत्नों का भण्डार;
प्रत्युत, अपने ही शृङ्गार,
(तुलसीमाला या मणिहार)
मा ! प्रतिबिम्बित होकर इसमें
दिखलाई देते निस्सार !
चला प्रेम की दृढ़-पतवार,
इसके जल को हिला अपार,
दिखलाई देती तब इसकी
विश्व-मूर्ति अति सदय, उदार !

(१९१८)

(४४)

श्रवण चाहिए अलि ! केवल,—
केकी की मृदु-केका-ध्वनि सुन,
चौंक, जग पड़ी थी मैं कल,
मैंने देखा तो आँगन में
नाच रही थी वह अविरल।

जिसे देख वह नाच रही थी
मैं वह सब थी समझ गई,
अह ! वह वर्षा-ऋतु ! वे वारिद !
वह मेरा अविरल दृग-जल !

मैंने नभ पर वक्र-भृकुटि कर
मौन-दृष्टि जब डाली थी,
तब अकरुण घन-घोष हुआ था,
चमकी थी चपला चञ्चल !

हाँ, प्यासी पी-पी ध्वनि सुनकर
पिघल पड़े थे तब घनश्याम,
पर न पपीहा तृप्त हुआ, हा !
कैसा था वह विरहानल !

वह भी उसका ही प्यासा था
जिसका पथ मैं तकती थी,
श्रवण कर चुकी थी वह केकी
जिसका नूपुर-नाद नवल ।
(१९१८)

(४५)

आँखों के अविरल-जल को
मत रोको, मन ! मत रोको !

इस भीषण-घन में सुन्दर
छिपा हुआ है मुक्ताकर,

इसी अश्रु-जल में वह मुख
अवलोको, मन ! अवलोको !

इस गर्जन में गौरव-गान
मिला हुआ है, देखो कान,

इसी चञ्चला में है बल,
मत चौंको, मन ! मत चौंको !

इस मलीनता में निर्मल
छिपा हुआ है शीतल-जल,

इस तम में ही है प्रियतम,
अवलोको, मन ! अबलों को !

लुटने ही में है संयोग,
जुटने ही में मेल अमोघ,

कुण्ठित ही क्यों हो न कृपाण,
पर, भौंको, निर्भय भौंको !

(१९१८)

(४६)

तुम्हारे कोमल-अङ्ग,
विधुर-उर के तारों में आज
गा रहे हैं क्या अस्फुट-गीत ?
छिपे थे जो स्वर सहज-पुनीत
विकल क्यों हुए आज निर्व्याज ?

निठुर-वाणी का ढङ्ग !
शब्द का गौरव, स्वर का स्पर्श
हो गया है क्या विभव-विहीन !
दिखाने को यह रूप नवीन
हो गये क्या निरर्थ आदर्श ?

आज अज्ञेय अनङ्ग !
धूम की खिली-स्फीति-सी घूम
ऊर्मियों में छवि की अनुकूल,
लीन हो जाऊँ मैं, सब भूल,
दूर से अधर तुम्हारे चूम !

मुझे अज्ञात-उमङ्ग,
बहाती है कब से, किस ओर !
कौन जाने ? पर मेरे नाथ !
न छूटे इस अतृप्ति से साथ,
सदा ही रहे अविकसित-भोर;
स्वप्न मत हो यह भङ्ग !

(१९१९)

(४७)

तब फिर कैसा होगा मात !
धीरे-धीरे पक्ष-हीन जब
हो जावेगा यह द्विज-दल,
डाल-डाल में, शाल-शाल में
उड़ न सकेगा उच्छृङ्खल;
मुरझे-फूलों-सा जब भू पर
गिर जायेगा हो निर्बल,
गा न सकेगा जब मृदु-स्वर से
प्रथम-रश्मि का स्वागत-कल ?

यह तो करता है उत्पात !—
अति अनन्त नभ की नीरवता
यह शब्दित कर हरता है,
विमल-वायु का कोमल-मानस
उड़ उड़ कम्पित करता है;
मेरे सुन्दर धनुष-बाण में
समुद बैठते डरता है,
इसे जाने पर भी तो यह
कभी न निकट विचरता है !

इसे नहीं यह अब तक ज्ञात—
जब तुम मुझको बैठाती हो
कण्टक-दल के आसन में,
उसे ग्रहण करती हूँ तब मैं
कितनी प्रमुदित हो मन में;
शूल फूल से हो जाते हैं
स्व-कर्तव्य के पालन में,
क्या न बनी थी पुरी अयोध्या
पञ्चवटी के भी बन में ?

(१९१८)

(४८)

नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !
झञ्झावात ! प्रलय ! भूकम्प !
वह्नि ! बाढ़ ! उल्का ! दृढ़-शम्ब !
तृष्णा का वह भीषण-ताण्डव
अन्त हुआ है आज प्रचण्ड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

पश्चिम के रक्तार्णव में
रक्त-हस्त विद्वेष-चक्र वह
अस्त हुआ है आज अखण्ड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

\+ + + + + + + + + +

एक तिमिर की गहरी-आह,
द्रुत भर दे यह गर्त-अथाह !
एक नाद का यहीं अन्त हो
डम् डम् डमरु बजे फिर शान्त !
उठो भ्रात ! अब जागो मात !
किनकी अमृत शुभाशाएँ—
वह, प्राची से ज्योर्तिमय-कर
बढ़ा रही है मङ्गल, कान्त ?
सुखमय हो यह नवल-प्रभात !

(११ नवम्बर १९१९)

(४९)

छोटे ही की क्या पहचान ?
उषा-उदय में मधु-बाला थी
गाती तेरा गौरव-गान,
वही मधुर-स्वर चुरा आज मैं
रोने बैठी थी अनजान।

सौरभ-वेणी खोल रहा था
तेरी महिमा की, पवमान,
वही आज अविरल-आहों से
मैं फैलाती थी,—हा ! प्राण !

कमल-क्रोड़ में कुमुद-किरण ने
जिसे दिया था जीवन-दान,
मेरी आँखों में अटका था
ओस-विन्दु वह अति-नादान।

पलक-युगल-नवदल खुलते ही
उसके जीवन का अवसान
स्मृति-पट पर अब तक अङ्कित है,
उस अजान का वह बलिदान !

तेरी हा छवि प्रतिविम्बित-सी
मुझको उसमें मिली महान,
मा ! तू क्या लघु-कण में भी है ?
तब क्या मैं ही थी अज्ञान ?

(१९१८)

(५०)

चपल-पलकों के साथ
दबा मेरा दुर्बल-दिल, प्राण !
सुन रहे हो क्या चूर्णित-गीत ?
बेसुरी, बिखरी, टूटी-तान
तुम्हें क्या भाती है विपरीत !

निराली-छबि के हाथ
पकड़कर मेरी पीली-बाँह,
खींचकर मुझको अपनी ओर,
छोड़ते हैं यह कहाँ—अथाह !
भूलने का है क्या कुछ छोर ?

तुम्हीं जानो हे नाथ !
चमककर मेरे पथ में प्रात
आँख अटकाती है यह कौन !
धूलि की ढेरी में अज्ञात
छिपी है क्या मेरी जय मौन ?

नवाती हूँ मैं माथ,
विनत-वदना नलिनी-सी प्रात,
अश्रु जीवन का रख उपहार;
अरुण-पद-चिह्न तुम्हारे तात !
स्पृहा से भर अपनी सुकुमार,
खोल अपलक दृग-द्वार !

(१९१९)

(५१)

मरु भी होगा नन्दन-वन !
मा ! जब मैं तुझसे अजान थी
तब कैसा था मेरा मन !
कैसा नीरव लगता था तब
यह मृदु-कलरव भरा भुवन !

विहग-बालिका की बोली तब
विभव नहीं बरसाती थी,
केशर के शर मार गन्धवह
खिला न सकता था तन, मन !

नहीं मधुकरी भी गाती थी
मधुर मधुभरी वीणा में,
जग को देख नहीं सकते थे
स्वावलम्ब के शत्रु नयन !

किन्तु हुआ जब तेरा मेरा
प्रथम रुचिरतम सुख-संयोग,
स्वर्ण-वर्ण तब कैसा सुन्दर
मेरा हुआ जननि! नूतन!

कितने मधुरस्वरों में गाये
विहगों ने गुण-गौरव-गीत,
तब कैसा खिल गया अखिल-जग
नवल-कमल का-सा कानन!

क्षीण-क्षपाकर की छाया में
छिपी हुई थी मैं पहिले,
नहीं जानती थी मा! तेरी
प्रयत-प्रभा की प्रथम-किरन—

मुझको इतना गौरव देगी
छूकर मेरा म्लान-वदन;
मेरी सोने की भावी के
भूषण हैं इतने भावन!

इतने कोमल-कमल मधुप-दल
मुझमें फूले पावेगा,
इतने पद्म-भूले-दृग मेरा
अभी करेंगे अभिवादन!

मैं इतनों की सुख-सामग्री
हूँगी जगती के मग में,
शोक-मुक्त होंगे द्रुत इतने
कोक मुझे कर अवलोकन!

(१९१८)

(५२)

अँगड़ाते-तम में
अलसित-पलकों से स्वर्ण-स्वप्न नित
सजनि! देखती हो तुम विस्मित,
नव, अलभ्य, अज्ञात!
आओ, सुकुमारि विहग-बाले!
अपने कलरव ही-से कोमल
मेरे मधुर-गान में अविकल
सुमुखि! देख लो दिव्य-स्वप्न-सा
जग का नव्य-प्रभात!

है स्वर्ण-नीड मेरा भी जग-उपवन में,
मैं खग-सा फिरता नीरव भाव-गगन में,
उड़ मृदुल-कल्पना-पङ्खों में, निर्जन में,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में, कन में!
कल-कण्ठिनि! निज कलरव में भर,
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ बन-बन, घर-घर,
नाचें तृण, तरु, पात!

(१९१९)

(५३)

तिलक! हा! भाल-तिलक!
छुड़ा दिया किस अकरुण-कर ने
यह शोभालङ्कार !!
जाति की आशा का सञ्चार!
पुरातन-वेदों की झङ्कार!

अश्रु-नयन निशि के आँगन में
बिखर गया अनजान,
आज गीता-रहस्य का गान!
कोटि-त्रय-कण्ठों का प्रिय-प्राण!

कर्म-योग की टीका अविकल—
कहाँ गया मा की गोदी का
हाय! केसरी-बाल!
स्वगति में गङ्गा-सा अविचल!
देश की धूलि से भरा लाल!

(१९२०)

(५४)

सखी ! सूखी-विन्दाल
सन्मुख बहती है वह नीरव,
निःसलिला, कङ्काल !
गिरी, बिखरी-स्मृति-सी प्राचीन,
अतृप्त, अकथ-वियोग-सी दीन !
अचिर-लालसा-सी निर्बल वह,
वैभव-सी कङ्काल !
समय के पद-चिह्नों-सी-क्षीण
स्वप्न-संसृति-सी आज विलीन !

चिकनी चुपड़ी उपल-राशि वह
नीली, पीली, लाल,
बाल-लीला-सी मेरी आज
खो चुकी निर्मलता का साज !
अह, उन कोमल पद-चिह्नों से
कैसी अस्फुट-चाल
दबाती है उर को तत्काल,
कहाँ सूखी है सखि ! विन्दाल ?

(१९२०)

(५५)

तेरा अद्भुत है व्यापार !
तुझको कबसे बुला रही थी
मैं पुकार कर बारम्बार,
विकसित-वदना, वासित-वसना
बनी हुई, सज शत-शृङ्गार !

स्वर्ण-सौध शुचि बनवाये थे
मैंने कितने उच्च, अपार,
विप्र-बालकों ने गाये थे
तेरे गुण-गण जहाँ उदार !
अगणित-मुद्रा दान दिये औ'
किया सभी कुछ शिष्टाचार,
किन्तु वहाँ मा ! नहीं सुनाई
तूने निज नूपुर-झङ्कार !

जब नन्दन की चम्पा-कलिका
कहलाती थी मैं सुकुमार,
नहीं कान की थी तब मैंने
मधु-बाला की भी गुञ्जार!
मेरा सौरभ चुरा-चुराकर
मारुत करता था सञ्चार,
किन्तु वहाँ भी तूने मुझको
नहीं बनाया उर का हार!

हाय! अन्त में अवनत-वदना,
अश्रु-लोचना हो लाचार,
अतिशय-दीना, विभव-विहीना
हो जब मैंने सर्व-प्रकार,
क्षीण-क्षपाकर की छाया में
नलिनी वन, की करुण पुकार,
मा! तब तूने मुझे दिखाई
अपनी ज्योतित-छटा अपार!

(१९१८)

(५६)

मेरे इस अन्तिम-विलास में,
—जब कि भग्न-आशाएँ मेरी
एकत्रित हो आज,
सजाती हैं मुझको निर्व्याज,
(नवल-बल, नव-सुख, नूतन-साज !)

—जब कि पराजय पागलपन बन
करती है उपहास —
कहाँ है प्रेम ? कहाँ विश्वास ?
आत्म-बलिदान ?—किसे है प्यास ?

कौन-कौन तुम इस मदिरा के
कनक-हास से भीत
गा रही हो यह बेसुर-गीत—
'कठिन-कर्तव्य !'—किसे है प्रीत ?

वहाँ, स्वर्ण-सिंहासन मेरा
सज्जित है उस ओर,
जहाँ मेरी आशा की भोर
जल रही है ज्वाला बन घोर !

पश्चिम की अन्तिम-किरणों में—
बना रही है, वह, मेरा पथ
पतित-पदों की धूल,
भग्न-मन विरह-वेदना भूल
जहाँ ओढ़ेगा दग्ध-दुकूल !

(१९१९)

(५७)

हृदय के वन्दी-तार
मुक्त कर रहे हैं माखन-से
भाव सहज-सुकुमार,
सुदामा के लघु 'चाउँर-चार',
भीलनी का जूठा-उपहार !

आज उगा था कलापूर्ण वह
दिव्य-चक्र-सा चाँद
नील-यमुनाका कल्-कल्-नाद
सरस-दधि के मटकों का स्वाद !

व्रज-भाषा का 'अमी', कुञ्ज की
'दई ! ढीठ-गुञ्जार !'
सूर के सङ्गीतों का सार,
दिव्य गीता-रहस्य का द्वार !

सखी ! द्रौपदी के दुकूल-सा
अप्रमेय, अज्ञात,
चोर, कौस्तुभ-कठोर विख्यात,
नहीं सुनता हा ! तब से बात !

(१६२०)

(५८)

प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल-विहङ्गिनि !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू, स्वप्न-नीड़ में
पङ्खों के सुख में छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी-से जुगनू नाना;

शशि-किरणों से उतर-उतरकर
भू पर कामरूप नभ-चर
चूम नवल-कलियों का मृदु-मुख
सिखा रहे थे मुसकाना;

स्नेह-हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मण्डप ताना;

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अन्ध-गर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल-निशिचर
चला कुहुक, टोना-माना;

छिपा रही थी मुख शशि-बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि,
कोक शोक से दीवाना;

मूर्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य-विश्व के उर में केवल
साँसों का आना जाना;

तूने ही पहले बहु-दर्शिनि !
गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का नभ-चारिणि !
गूँथ दिया ताना-बाना !

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुञ्ज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम-रूप नाना;

सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त-समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम-अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना;

खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि,
खिली सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पन्दन-कम्पन औ' नव-जीवन
सीखा जग ने अपनाना;

प्रथम-रश्मि का आना रङ्गिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे, बाल-विहङ्गिनि !
पाया यह स्वर्गिक गाना ?

(१९१९)

(५६)

गहन-कानन !
व्रत से पोषित विघ्न-सदृश पावस-नद-गर्जन
करता है गति-रोध—
नियति-सा कुञ्चित, कोमल-दर्शन !

प्रतिहिंसा-सी, कायरता-सी,
वह, पीछे करवाल
चमकती है कैसी विकराल ?
हँस रहा हो ज्यों असमय भीषण !
छोड़ अन्तिम-निःश्वास—
वायु-गति से हो नद के पार
शूर-स्वामी का कर उपकार,
जा रहा है, वह, सखि ! उसपार
आज प्रभु-भक्त प्रहत, लोहित-तन !
करुण-नयनों की नीरव-कोर
डाल निश्चल स्वामी की ओर,
अर्ध हिनहिना, अश्रु-जल छोड़,
दृगों में मूँद चरम-छवि पावन !
——"कहाँ हाय ! सुख-दुख के सहचर !
चेतक ! चेतक ! मुझे छोड़कर—
कहाँ चल दिये—तुम असमय पर—
हा————मेरे रण-भूषण ! ! !

(१९२०)

(६०)

इस विस्तृत-हौस्टल में
मैं सुनती हूँ
मेरा भी है सखि ! छोटा-सा रूम,
जहाँ मेरी आकाङ्क्षा - सूम
गूँजती है प्रतिपल को तूम !
इन असङ्ख्य मृदु-कण्ठ-स्वरों में,
मिला हुआ है अलि ! मेरा भी
कम्पित -स्वर अति - दीन,
रुँधी-दुर्बलता की ध्वनि क्षीण
डूबती है जिनमें हो लीन !

शून्य - हृदय - दुर्विघ्न गेंद-सें
ठुकराकर अविराम,
साथ, मैं भी जीवन का काम
गोल पाती हूँ अति अभिराम !

\+ + + + + + +

उठो सजनि ! घण्टे की ध्वनि में
गूँज रहा है, सुनो, हमारा
प्रिय - कर्तव्य - कठोर !
जाति-सेवा की उज्ज्वल-भोर
बढ़ाती है, वह, कर इस ओर !

(१९२०)

(६१)

यह दुख कैसे प्रकटाऊँ !
अभी बालिका हूँ मैं तो,
मैं तुझको क्या पहनाऊँ ?
मेरे कैसे गहने होंगे
जिनको ले सम्मुख आऊँ ?

तो क्या अस्फुट-कलियों ही की
माला पहना दूँ तुझको ?
किन्तु उन्हें भी देवि ! गूँथकर
कैसे सेवा में लाऊँ !

जब मैं ऋतुपति के उपवन में
मा के सँग थो गई प्रभात,
मैंने पूछा—'मा! पूजा को
मैं भी माला निर्माऊँ?'

मा ने सूची मुझे नहीं दी,
कहा—'अभी तू बच्ची है।'
अश्रु-हार ही पहना तब क्या
मैं चरणों को नहलाऊँ?

नहीं,—न जाने इनमें क्या है
जो दिल को है दुखा रहा,—
मा! क्या डालूँ गले और तब?
क्या बाँहों को लिपटाऊँ?

हाँ, ले, मेरी 'हार' यही है,
यही तुझे पहनाऊँगी,
दोनों बाँहें गले डालकर
मैं अञ्चल में छिप जाऊँ!

(१९१८)

(६२)

दिवानाथ का विपुल-विभव जब
मेरी आहों से तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम में
वह्नि-ज्वाल बन एक कराल ।

किस प्रकार तब अन्धकारमय
हौले थी हो गई मही !
तस्करिणी-सी तन्द्रा सबकी
सुधि थी चुपके छीन रही ।

चित्र-चित्रिता-सी, विलोक यह,
मैं भय से हो गई विकल,
कहाँ छिपाऊँ निज मणि-मुक्ता
यही सोचती थी केवल !

किन्तु खड़ी होकर तब मैंने
उनको ऊपर उठा त्वरित,
बोध वायु के बाल-जाल से,
नभ में लटका दिया मुदित ।

निश्चिन्ता हो, खड़ी-खड़ी मैं
उन्हें देखती थी अविरल
तुलसी-आँगन के दीपक में
जब तुझको देखा उज्ज्वल ।

मन्द-मन्द तू मुसकाती थी
दीप-शिखा में खिल मञ्जुल,
फैल रही थी तेरी आभा
तुलसी-अञ्चल में संकुल !

शलभ-पुंज अर्पण करता था
तुझे प्राण अपने अविरत,
मुनि-कन्याओं से वह जिसका
था महत्व सुन चुका महंत।

पर मैं उसके आत्म-त्याग को
अधिक न देख सकी उस बार
हौले मेरा हृदय हो गया
हाय! एक तब हाहाकार!

मैंने निज मणि-मुक्ताओं को
मारुत से मांगा उठकर,
पर न उन्हें पा सकी जननि! मैं
अर्पण करने को तुझ पर।

व्याकुल हो निज करुण-कथा तब
तुझे सुनाने मैं आई,
पर तेरे ढिग आ, वह मैंने
स्वयं गूँजती-सी पाई!

रोई मैं निज मुक्ताओं को
तेरे सम्मुख हाहा कर,
अपना दारुण-दुख भी मैंने
तुझे सुनाया गा-गाकर !

शलभ-पुञ्ज के सदृश हाय ! मैं
जला न उसको सकी वहीं,
अपने कृत्यों की छाया-सी
मैं अविरत थी काँप रही !

अपनी ही मणियों की आभा
मैं न और कर सकी सहन,
अधिक न रोई मैं फिर उनको,
मूँद लिये मैंने लोचन !

तूने तब मुझ सत्व-विहाना
दीना पर अति करुणा की,
मूँक-तिमिर की भाँति मुझे भी
निज-चरणों की छाया दी।

तब शलभों ने पूछा तुझसे
कहाँ गई वह भीरु-मना,
जो तारों को मोती बतला
कलप रही थी नत-वदना ?

अपने कोपानल में तूने
जला दिया क्या उसे प्रबल ?
या उसके ही अपराधों से
बाध दिया उसको निश्चल ?

मन्द-मन्द मुसका मन में तू,
बोली तब उनसे सप्रेम—
'वह निर्दोषा तो माया थी,
उसका ऐसा ही है नेम!

'जब तुम फूलों में फूले थे
मुझसे मिलने के पहले,
तब तुम उसमें ही भूले थे,
उसमें ही थे मुग्ध, मिले!'

(१९१८)

(६३)

'मिला-मिलाकर सुन्दर-स्वर
अपनी वीणा में मृदुतर,
इन थोड़े से गीतों को मैं
गा लूँगी जब तेरे, मात !'
—यही सोचती थी मैं नित्य,
'ऊषा में स्नेहाञ्जलि भर,
मोह, मदन, मद की बलि कर,
तब क्या गाकर खेलूँगी मैं ?
निज जीवन की प्रमुदित-प्रात,
मन्द मन्द कर मञ्जुल नृत्य !'

तू मुझको अति चिन्तित जान,
समझ निपट-नादान, अजान,
बोली थी—'मैं बतलाऊँगी,
तुझको अपने गीत-पुनीत।'
नूपुर-ध्वनि कर श्रुति-सुखकर !
पर अब करती हूँ अनुमान
मुझमें कितना था अज्ञान !
जीवन भर भी मा ! मैं पूरे
गा न सकूँगी तेरे गीत,
अपनी वाणी में स्वर भर !

(१९१९)